शिक्षा और 'आदर्श' बच्चा

क्या 'बचपन' का सिर्फ़ एक ही मतलब हो सकता है ?

रेवा यूनुस

भारतीय सन्दर्भ में बचपन की अवधारणा क्या है? 'आदर्श' और 'अनादर्श' बच्चा क्या है? शिक्षा के दायरे में बचपन और 'आदर्श' बच्चे को देखने का नज़रिया है? क्या बचपन का सिर्फ़ एक ख़ास मतलब ही हो सकता है? जैसे सवालों पर यह लेख ग़ौर करता है। और शोध अध्ययनों के हवाले से कहता है कि बचपन कई प्रकार के होते हैं उनको समझना व सम्मान करना बहुत ज़रूरी है। लेख, ख़ासकर सामाजिक-आर्थिक शोषण की विविधतापूर्ण परिस्थितियों में पलने-बढ़ने वाले बचपन के लिए बेहतर शैक्षिक-सामाजिक परिस्थितियों में अच्छी शिक्षा की पैरवी करता है जिससे कि समाज में शैक्षिक, सामाजिक और आर्थिक असमानता को कम किया जा सके। लेखिका ज़ोर देकर कहती हैं कि 'अनादर्श' बच्चे नहीं हैं बल्कि राज्य और समाज हैं एवं 'कमी' और 'अपूर्णता' बच्चों और परिवारों में नहीं बल्कि संस्थाओं और व्यवस्थाओं में है।

परिचय

"अरे, हमारे माँ-बाप ने नहीं भेजा हमें स्कूल?... अगर बच्चा रोज़ स्कूल आएगा तो सीखेगा कैसे नहीं?" पाण्डे मैडम का कहना था कि माता-पिता अमीर हों या ग़रीब, अगर शुरू से बच्चों की पढ़ाई पर ध्यान दें तो ही सब ठीक चलता है वरना नहीं। पाण्डे मैडम की बातें सुनकर मुझे भी अपना तब का अनुभव याद आ गया जब मैं घर के पास की एक झुग्गी-बस्ती के बच्चों को पढ़ाया करती थी। तब मुझे भी यही नाराज़गी रहती थी कि बच्चे नियमित आते ही नहीं हैं। मुझे यही लगता था कि बच्चे अगर रोज़ आएँगे, मन लगाकर पढ़ेंगे, तो सीखेंगे कैसे नहीं!

इस लेख में, मैं इसी मुद्दे पर बात करना चाहती हूँ। मध्यमवर्गीय शिक्षक (और शिक्षा नीति निर्माता वग़ैरह) 'बच्चे' और 'बचपन' जैसे शब्दों को अकसर ऐसे इस्तेमाल करते हैं जैसे इनका यथार्थ हमेशा एक-सा ही होता है, जैसे सबका बचपन एक-सा गुज़रता है, जैसे बचपन कोई ऐसी परी कथा है जिसपर ज़मीनी सच्चाइयों का कोई असर कभी नहीं पड़ता, जैसे ग़ैर-बराबरी और शोषण के सारे सवाल बचपन के घेरे से बाहर ही कहीं ठिठक कर रुक जाते हैं। 'बचपन' को लेकर इस व्यक्तिवादी परिकल्पना में हर बच्ची एक ऐसे व्यक्ति के रूप में देखी जाती है जिसकी स्कूली ज़िन्दगी का समाज, या अर्थव्यवस्था से कोई लेना-देना नहीं, जैसे वह एक परिवार, एक समुदाय या समाज का हिस्सा नहीं, जैसे उसपर वर्ग, जाति/नस्ल, जेंडर या धर्म के फ़र्क़ पर आधारित असमानता का कोई असर नहीं पड़ता।

'बचपन' की अवधारणा बनाम 'आदर्श' बच्चा

'बचपन' की अवधारणा पर किया गया शोध बताता है कि एक ख़ास तरीक़े के 'आदर्श' (आइडियल) और 'वैश्विक' (ग्लोबल) बच्चे की कल्पना ही शिक्षा नीति और शिक्षण पद्धतियों में अकसर प्रतिबिम्बित होती दिखती है। 'बचपन' की ये छवि मध्यमवर्गीय तथाकथित 'उच्च' जाति के लड़कों के अनुभवों से मेल खाती है और मेरी व पाण्डे मैडम की सोच भी कई मायनों में इसी क़िस्म के किसी बच्चे के अनुभवों, सम्भावनाओं और परिस्थितियों में अटकी रही।

'बचपन' के क्षेत्र में शोध करने वाली स्कॉलर शारदा बालगोपालन के अनुसार, जब भारत जैसे देशों में ब्रिटिश उपनिवेशवाद के दौरान आधुनिक और औपचारिक स्कूली शिक्षा की शुरुआत की गई, तो इस शिक्षा व्यवस्था के साथ 'आदर्श' स्कूली बच्चे की एक ख़ास परिकल्पना या अवधारणा भी शिक्षा नीति, संस्थाओं और विमर्श का हिस्सा बन गई। इस सोच के चलते 'बचपन' की हमारी समझ में दो क़िस्म के बदलाव आए– पहला, बचपन, युवावस्था और वयस्क अवस्था जीवन के विशिष्ट चरणों के रूप में स्थापित होने लगे; इससे पहले हमारे समाज में इन अवस्थाओं में हमेशा इतना स्पष्ट और तीक्ष्ण फ़र्क़ करना ज़रूरी नहीं समझा जाता था। और दूसरा, अब शिक्षा, समाजीकरण और काम के बीच का रिश्ता ख़त्म होने लगा था (जिसके आधारभूत कारणों में उपनिवेशवाद की जड़ में बसी पूँजीवादी अर्थव्यवस्था और नस्लवाद भी शामिल थे)। धीरे-धीरे यह मान्यता बन गई कि 'आदर्श' बच्चा वही है जो सिर्फ़ औपचारिक स्कूली शिक्षा में व्यस्त हो, न कि किसी क़िस्म के काम में, और जैसा कि ओल्गा न्यूवेनहाइज़ ने स्पष्ट किया है, ख़ासतौर पर आर्थिक रूप से महत्त्वपूर्ण काम में। इस 'आदर्श' स्कूली बच्चे की परिकल्पना में यह भी शामिल था कि इस बच्चे को कुछ बुनियादी सुविधाएँ निश्चित रूप से उपलब्ध होंगी, जैसे– पर्याप्त खाना-पीना, रहने के लिए सुरक्षित घर, खेलकूद की जगह और फ़ुर्सत, बढ़ने-पढ़ने के लिए पर्याप्त संसाधन आदि।

ज़ाहिर है, अगर यही 'आदर्श' था तो भारत के अधिकतर बच्चे आदर्श से न सिर्फ़ तब कोसों दूर थे, बल्कि अच्छी-ख़ासी संख्या में आज भी इससे दूर ही हैं। फिर भी अगर एक दिन भी कोई स्कूलों में गुज़ारे तो पाएगा कि आज भी इस आदर्श बचपन की छवि को ध्यान में रख कर ही नीतियाँ बनाई जाती हैं। न सिर्फ़ नीतियाँ, बल्कि स्कूल में दिनभर का सारा कार्यक्रम, शिक्षकों की अधिकतर बातें कहीं-न-कहीं इस आदर्श को ध्यान में रखकर ही कही जाती हैं। इस आदर्श के कारण सबसे बड़ी दिक़्क़त यह खड़ी हो गई कि कामकाजी और स्कूली बच्चे के बीच जैसे एक विरोधाभास पैदा हो गया– जो बच्चा स्कूल जाता है वह काम नहीं करता, या कम-से-कम 'उसे काम नहीं करना चाहिए'। मानो स्कूल जाना कोई जादू की छड़ी फिराने के बराबर है- इधर स्कूल जाना शुरू किया, और उधर सारी परेशानियाँ छू-मन्तर! काश कि सच में ऐसा ही होता भी!

किताब *द पुअर चाइल्ड* में लेखिकाओं ने यह तर्क सामने रखा है कि— विकास एवं शिक्षा पर केन्द्रित समकालीन विमर्श बुनियादी तौर से सिर्फ़ एक 'आदर्श' बच्चे की ज़िन्दगी को ही ध्यान में रखते हैं— बाक़ी बच्चों के जीवन, उनकी पृष्ठभूमि और प्रसंग सांस्कृतिक तौर पर अपूर्ण और अभावग्रस्त (deficient) समझे जाते हैं।

आरती श्रीप्रकाश और लूसी हॉपकिंस की 2016 में प्रकाशित किताब *द पुअर चाइल्ड* इस सवाल को रेखांकित करने का और इसके जवाब ढूँढ़ने का एक बेहतरीन प्रयास है। लेखिकाओं ने किताब की शुरुआत में यह तर्क सामने रखा है कि विकास एवं शिक्षा पर केन्द्रित समकालीन विमर्श बुनियादी तौर से सिर्फ़ एक 'आदर्श' बच्चे की ज़िन्दगी को ही ध्यान में रखते हैं– बाक़ी बच्चों के जीवन, उनकी पृष्ठभूमि और प्रसंग सांस्कृतिक तौर पर अपूर्ण और अभावग्रस्त (deficient) समझे जाते हैं। मतलब यह कि इन बच्चों और इनके अभिभावकों में उन नज़रियों, समझ या गुणों का कथित रूप से अभाव होता है जिन्हें शैक्षिक सफलता के लिए आवश्यक समझा जाता है। इन बच्चों, परिवारों या समुदायों को केन्द्र में रखकर शिक्षा का ढाँचा और प्रारूप नहीं बनाए जाते, बल्कि ये उनके कथित 'सुधार' के लिए बनाए

जाते हैं। इन ‘अनादर्श’ बच्चों को लेखिकाओं ने ‘पुअर चाइल्ड’ कहा है– यानी ‘ग़रीब बच्ची’। वैसे तो ‘चाइल्ड’ का मतलब बच्चे या बच्ची दोनों से हो सकता है, मगर जेंडरजनित भेदभाव की गम्भीरता के मद्देनज़र मैं ‘पुअर चाइल्ड’ का अनुवाद ‘ग़रीब बच्ची’ करती रही हूँ।

जिन तबक़ों को ऐतिहासिक रूप से सत्ता में, और परिणामतः नीति-निर्माण में हाशिए पर रहना पड़ा है, उन तबक़ों से आने वाले बच्चों के लिए पाठ्यचर्या और स्कूली किताबों के ज़रिए जो अन्याय हुआ है, इसपर तो काफ़ी चर्चा हमारे यहाँ होती रही है। ज़रूरी यह भी है कि ‘ग़रीब बच्चियों’ की सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि और भूमिका की भी बेहतर समझ पैदा हो और बच्चियों के अनुभवों के ज़रिए उन सामाजिक और आर्थिक तंत्रों की भी बेहतर समझ बने जिनके चलते ग़ैर-बराबर बचपन ऐतिहासिक तौर पर पैदा होते रहे हैं और जिनके कारण सामाजिक-आर्थिक ग़ैर-बराबरी बरक़रार रहती है।

ज़मीनी हक़ीक़त

इस हिस्से में मैंने कुछ उदाहरण दिए हैं। ये उदाहरण उस स्कूल से हैं जहाँ मैंने पीएचडी के दौरान रिसर्च की। इस स्कूल के सभी शिक्षक पहले तो ग़रीबी के रोज़मर्रा अनुभव को ही समझने में अक्षम थे, दूसरे, अगर वे यह मानने के लिए तैयार भी थे कि उनके विद्यार्थियों पर ज़िम्मेदारियाँ हैं, तो उस ज़मीनी सच को अकसर बच्चों के माता-पिता की ‘ग़लती’ के तौर पर देखा गया, ‘मजबूरी’ की तरह नहीं। कम नम्बर लाने वाली कुछ बच्चियों को कई बार कक्षा में ताने-उलाहने सुनाए जाते– ‘तेरी मम्मी घर पे कुछ भी काम नहीं करती क्या?’ मतलब यह कि अगर बच्ची घरेलू ज़िम्मेदारी के चलते पढ़ाई ठीक से नहीं कर पाती है तो ज़रूर कहीं-न-कहीं माँ-बाप की ही कोई ग़लती होगी। एक सबसे बड़ी दिक़्क़त यह थी कि जिन आदतों और नज़रियों के अभाव को सांस्कृतिक ‘कमी’ और ‘हीनता’ समझा जा रहा था उनका आर्थिक-सामाजिक परिस्थितियों से क्या सम्बन्ध है, इसकी समझ मध्यमवर्गीय शिक्षकों में कम ही दिख रही थी। जैसे– कक्षा में ध्यान न दे पाने की वजह शायद यह हो सकती है कि बच्ची ने सुबह कुछ खाया ही न हो, स्वेटर न होने के कारण ठण्ड में ठिठुर रही हो, या चूल्हे के धुएँ से हुई खाँसी ने उसे रातभर सोने ही न दिया हो– यह कल्पना ही शिक्षकों के लिए मुश्किल थी। बच्चियों के पास आमतौर पर वे संसाधन, ऊर्जा और समय ही नहीं होते कि वे नियमित रूप से स्कूली शिक्षा की माँगें पूरी कर सकें। उदाहरण देने का मेरा मक़सद यह नहीं है कि किसी एक शिक्षक को, या सिर्फ़ शिक्षकों को इस स्थिति के लिए ज़िम्मेदार ठहराया जाए। शिक्षकों और बच्चों के बीच के रिश्ते पर ध्यान देने का प्रमुख कारण यह है कि ‘बचपन’ और ग़रीब बच्चियों के अनुभव को समझने के लिए ज़रूरी है कि जाति, वर्ग और जेंडर के उन रिश्तों को भी ध्यान में रखा जाए जिनमें व्यापक समाज बँधा रहा है। और इन रिश्तों का एक ट्रेलर मुझे स्कूल में नज़र आता है।

एक सबसे बड़ी दिक़्क़त यह थी कि जिन आदतों और नज़रियों के अभाव को सांस्कृतिक ‘कमी’ और ‘हीनता’ समझा जा रहा था उनका आर्थिक-सामाजिक परिस्थितियों से क्या सम्बन्ध है, इसकी समझ मध्यमवर्गीय शिक्षकों में कम ही दिख रही थी।

आठवीं कक्षा में जहाँ मैंने मुख्य रूप से रिसर्च की, वहाँ अस्सी में से बमुश्किल दस बच्चे ही तथाकथित उच्च जातियों से थे जबकि सभी सात शिक्षक ब्राह्मण थे। हालाँकि सभी शिक्षकों की आर्थिक स्थिति एक-सी नहीं थी, मगर सभी के बच्चे निजी स्कूलों और कॉलेजों में पढ़े थे या पढ़ रहे थे। ऐसे में उनके अपने बच्चे ‘आदर्श’

बच्चे की अवधारणा में कहीं बेहतर फ़िट होते थे बजाय उनके स्टूडेंट्स के। उस कक्षा में पढ़ने वाले लगभग सभी बच्चों के परिवार अनौपचारिक रोज़गार पर निर्भर थे और लगभग सभी आन्तरिक प्रवासी (internal migrant) थे। शहर के स्थायी प्रवासी होने के कारण, और कई वर्षों से इन्दौर में रहने के कारण अधिकतर परिवारों के पास सारे पहचान-पत्र वग़ैरह तो थे मगर अनौपचारिक रोज़गार में होने के कारण उनकी मासिक आय घटती-बढ़ती रहती थी, यानी उनकी आर्थिक स्थिति अकसर बदलती रहती थी। कई बच्चे-बच्चियों ने अपने और अपने घरवालों के मानसिक तनाव और चिन्ता का ज़िक्र भी मुझसे किया। उनकी रोज़मर्रा की ज़िन्दगी में न तो स्थायित्व था और न मन की शान्ति। कई परिवार जो जाति वग़ैरह के आधार पर पक्षपात या शोषण झेलते रहे थे, और जिनकी जान-पहचान में ऐसे लोग नहीं थे जो शहर में ठीक-ठाक आजीविका ढूँढ़ने में उनकी मदद कर सकते थे, उन्हें और भी मुश्किलों व अनिश्चितता का सामना करना पड़ता था।

एक ग़ौरतलब बात यह है कि आज की तारीख़ में सारी दुनिया की अर्थव्यवस्था 'अनौपचारिक श्रम' (informal labour) पर टिकी हुई है, जिसमें बच्चों और महिलाओं के काम की ख़ास भूमिका है— चूँकि उनसे बहुत कम मज़दूरी पर काम लिया जा सकता है।

एक ग़ौरतलब बात यह है कि आज की तारीख़ में सारी दुनिया की अर्थव्यवस्था 'अनौपचारिक श्रम' (informal labour) पर टिकी हुई है, जिसमें बच्चों और महिलाओं के काम की ख़ास भूमिका है— चूँकि उनसे बहुत कम मज़दूरी पर काम लिया जा सकता है। दूसरे, मध्यप्रदेश देश में सबसे कम दैनिक मज़दूरी देने वाले प्रदेशों में है। ऐसे में जिन परिवारों का पूरा भरण-पोषण इस तरह के काम पर ही टिका हुआ हो वहाँ बच्चों को अकसर काम करना ही पड़ता है। यहाँ ज़िम्मेदारी किसी एक परिवार या समुदाय की नहीं, बल्कि भारतीय राष्ट्र-राज्य और वैश्विक पूँजी की है। नवउदारवाद के चलते भारतीय राज्य ने भी ग़रीब और शोषित समुदायों के प्रति अपनी ज़िम्मेदारियों से मुँह मोड़ लिया है।

ऐसे में वर्ग और जाति के पीढ़ी-दर-पीढ़ी चले आ रहे फ़र्क़ बचपनों की असमानता बनाए रखने में और भी कामयाब हो जाते हैं। काम और स्कूल के बीच के जिस विरोधाभास का ज़िक्र मैंने ऊपर किया है उसमें अकसर 'घर के काम' का विश्लेषण छूट जाता है— जिस काम को मारिया माईज़ ने 'पुनरुत्पादक' श्रम (reproductive labour) नाम दिया है और जो 'सामाजिक पुनरुत्पादन' का आधार है। इसमें बच्चे पैदा करना, सारे घर का काम एवं देखभाल और बच्चों की परवरिश, वग़ैरह बहुत-सी बातें शामिल हैं। ये सारा भार आमतौर पर लड़कियों / औरतों को ही ढोना पड़ता है। सिंडी कैट्ज़ के अनुसार, वैश्वीकरण और नवउदारवाद के चलते इस काम की महत्ता और इसका भार बढ़ा ही है, कम नहीं हुआ। अगर ये काम न हो तो उत्पादक काम करने के लिए कोई श्रमिक भी उपलब्ध नहीं होंगे।

मैं ऐसे कई बच्चों से मिली जिनके माता-पिता को न तो हफ़्ते में एक दिन की पूरी छुट्टी नसीब होती थी, और न उनका काम आठ घण्टे तक सीमित होता था। इस सबके चलते बच्चियों पर अकसर घर के काम का ज़िम्मा आ ही जाता था (वैसे संयुक्त परिवार के बढ़ते चलन, प्रवासन यानी 'माइग्रेशन' और लड़कियों की शिक्षा में बढ़ती सहभागिता के कारण एक बदलाव भी मैंने देखा- कई लड़के भी घर के काम में अपनी माँओं का हाथ बँटाते नज़र आने लगे हैं)। रूपा की कहानी में ऐसे ही

सामाजिक-आर्थिक वर्गीकरण का गहरा असर दिखाई देता है। आठवीं में पढ़ने वाली रूपा और नवीं में पढ़ने वाले उसके भाई प्रवीण को एक रेडीमेड कपड़ा उत्पादन यूनिट में काम शुरू करना पड़ा क्योंकि उनकी माँ और पिता, दोनों ही, स्वास्थ्य समस्याओं के कारण काम करने में असमर्थ हो गए थे। लेकिन भाई-बहन के बीच भी महत्त्वपूर्ण अन्तर था क्योंकि रूपा पर तिहरी ज़िम्मेदारी थी– स्कूल का काम, घर का काम और यूनिट पर मज़दूरी। चूँकि आठवीं तक स्कूल में फ़ीस देने की ज़रूरत नहीं थी इसलिए कम-से-कम रूपा को उस वक़्त तो स्कूल नहीं छोड़ना पड़ा जबकि प्रवीण का स्कूल जाना बन्द हो गया था। भाई-बहन पर इसी यूनिट में कम पैसे पर काम करने की मज़बूरी इसलिए भी थी कि माता-पिता के इलाज के लिए यूनिट के मालिक़, यानी 'सेठ' से बहुत उधार भी इस परिवार को लेना पड़ा था।

अब सोचिए कि ये बचपन 'आदर्श' बचपन से कुल कितना दूर था! मात्र स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्याओं ने ही कई परिवारों की भी कमर तोड़ रखी थी।

यह भी कल्पना कीजिए कि अगर स्वास्थ्य सेवाएँ बिना शर्त मुफ़्त मुहैया होतीं (शर्तें पूरी न कर पाने, या नीतियों का सही कार्यान्वयन न होने के कारण भी मैंने कई परिवारों को संघर्ष करते हुए देखा है– ख़ासतौर पर स्वास्थ्य सेवाएँ पाने के मामले में) और स्कूल बारहवीं तक मुफ़्त भी होता एवं स्कूली शिक्षा गुणवत्तापूर्ण होती तो रूपा और प्रवीण के लिए ग़रीबी से लड़ने की कई ज़्यादा सम्भावना होती! कल्पना की यह उड़ान क्या ये नहीं बतलाती कि सामाजिक-आर्थिक असमानता से छुटकारा पाने के लिए सिर्फ़ स्कूली शिक्षा उपलब्ध करवाना ही काफ़ी नहीं है? इसके लिए अच्छे स्कूल ज़रूरी हैं। ग़रीबी कैसे स्कूली शिक्षा में सहभागिता में बाधा बनती है और बच्चों एवं उनके परिवारों पर उसका क्या बुनियादी असर होता है, इसे समझने, स्वीकारने और उसका उपाय करने की भी ज़रूरत है।

> यहाँ मैं बच्चियों के सामाजिक-आर्थिक शोषण की हिमायत नहीं कर रही हूँ, बल्कि यह दिखाने की कोशिश कर रही हूँ कि बचपन कई प्रकार के होते हैं और उनका सम्मान करना व उन्हें समझना बेहद ज़रूरी है। ग़रीब बच्चियों की मजबूरियों को समझने का यह मतलब कतई नहीं है कि इनकी बौद्धिक / शैक्षिक क्षमता से उम्मीद कम की जाए; बल्कि इन्हें अच्छी सुविधाएँ दी जाएँ।

जहाँ एक ओर ये बच्चे अर्थव्यवस्था में महत्त्वपूर्ण भूमिकाएँ निभा रहे हैं, वहीं दूसरी ओर स्कूल में इनकी बराबर हेठी हुआ करती थी– उनके काम की उनके परिवार, समाज या अर्थव्यवस्था में क्या महत्ता थी, इससे स्कूल में किसी को कोई सरोकार नहीं था, न उनसे सहानुभूति थी, और न उस वैश्विक पूँजी और राज्य के प्रति कोई रोष जो इनके प्रति अपनी ज़िम्मेदारियाँ निभाने से लगातार पीछे हट रहे थे। उनके अनुभवों, अभावों, संघर्षों का बच्चों पर, उनके मन और उनकी पढ़ाई पर क्या असर पड़ता है– इसकी कोई समझ शिक्षा नीति, किताबों या शिक्षण पद्धतियों में नज़र नहीं आती। क्लासरूम में अगर हर बच्ची की तुलना 'आदर्श' बच्चे से की जाए, और वही उम्मीदें उससे की जाएँ जो 'आदर्श' बच्चे से की जाती हैं, तो न तो हम कभी इनकी ज़िन्दगियों को समझ पाएँगे और न ही इनसे न्याय कर पाएँगे। रूपा और प्रवीण का उदाहरण यह भी दिखाता है कि 'बचपन' की अवधारणा यह समझने में ख़ासी उपयोगी सिद्ध होती है कि भारतीय समाज एवं अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था किस तरह असमान बचपन पैदा करते हैं और इसका शैक्षिक अनुभवों से क्या सम्बन्ध है।

अन्त में

यहाँ मैं बच्चियों के सामाजिक-आर्थिक शोषण की हिमायत नहीं कर रही हूँ, बल्कि यह दिखाने की कोशिश कर रही हूँ कि बचपन कई प्रकार के होते हैं और उनका सम्मान करना व उन्हें समझना बेहद ज़रूरी है। ग़रीब बच्चियों की मज़बूरियों को समझने का यह मतलब कतई नहीं है कि इनकी बौद्धिक / शैक्षिक क्षमता से उम्मीद कम की जाए; बल्कि इन्हें अच्छी सुविधाएँ दी जाएँ। विडम्बना यह है कि जो बच्चे इतनी मुसीबतों से निपटते हुए पढ़ाई करने की कोशिशें करते हैं, उन्हीं को सबसे कम संसाधनयुक्त स्कूलों से काम चलाने को कहा जाता है। इन्हें मिलते हैं– टूटे-फूटे ब्लैकबोर्ड, बिना लैब और लाइब्रेरी के स्कूल, बेजान, बिना गीत-संगीत की 'मॉर्निंग असेम्बली', बिना खेलकूद के सामान वाले स्कूल, और नीरस मध्याह्न भोजन। वहीं इनके शिक्षकों को मिलते हैं- बिना लैंडलाइन, बिना इंटरनेट, बिना कॉपियर-प्रिंटर वाले 'ऑफ़िस', टूटे-फूटे कुर्सी-मेज़ और लोकल बैंक के दान किए हुए लाइट, पंखे और अलमारियाँ। शैक्षिक न्याय के लिए सामाजिक न्याय भी ज़रूरी है व शैक्षिक असमानता और आर्थिक-सामाजिक असमानता से एक साथ निपटना ज़रूरी है। और इनसे निपटने के लिए (सिर्फ़) परिवार या समुदाय की नहीं, बल्कि अर्थव्यवस्था, समाज और नवउदारवादी राष्ट्र-राज्य का समीक्षात्मक विश्लेषण (critical analysis) भी ज़रूरी है। 'अनादर्श' बच्चे नहीं बल्कि राज्य और समाज हैं एवं 'कमी' और 'अपूर्णता' बच्चों और परिवारों में नहीं बल्कि संस्थाओं और व्यवस्थाओं में है।

सन्दर्भ

Balagopalan, S (2014), *'Inhabiting 'Childhood': Children, Labour and Schooling in Postcolonial India,'* Basingstoke: Palgrave Macmillan.

Balagopalan, S and Subrahmanian, R (2003), 'Dalit and Adivasi Children in Schools: Some Preliminary Research Themes and Findings', *IDS Bulletin* 34 (1) (2003): pp. 43-54.

Hopkins, L and Sriprakash, A (eds) 2016, *The 'Poor Child': The Cultural Politics of Education, Development and Childhood,* Oxon: Routledge.

Katz, C (2004), *Growing Up Global: Economic Restructuring and Children's Everyday Lives,* Minneapolis: University of Minnesota Press.

Nieuwenhuys, O (2006), 'The Paradox of Child Labour and Anthropology', In Das V (ed.) *Handbook of Indian Sociology,* New Delhi: Oxford University Press, pp. 331-344.

रेवा यूनुस भौतिकशास्त्र एवं शिक्षा में स्नातकोत्तर हैं, आपने वार्विक विश्वविद्यालय से समाजशास्त्र में पीएचडी की है। वंचित बच्चों के साथ व स्कूली शिक्षा के अलग-अलग पहलुओं पर काम किया है जिसमें शिक्षा-नीति और विज्ञान पाठ्यक्रम शामिल हैं। भाषा शिक्षा, शैक्षणिक असमानता और जेंडर के मुद्दों पर लिखती रही हैं। वे आजकल टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ़ सोशल साइंस, मुंबई में बतौर पोस्ट-डॉक्टोरल फेलो काम कर रही हैं।

सम्पर्क : reva.yunus@gmail.com